UGC NET - POLITICAL SCIENCE
SAMPLE THEORY

PAPER - III

- राजनीतिक सिद्धान्त

VPM CLASSES
For IIT-JAM, JNU, GATE, NET, NIMCET and Other Entrance Exams
1-C-8, Sheela Chowdhary Road, Talwandi, Kota (Raj.) Tel No. 0744-2429714
Web Site www.vpmclasses.com E-mail-vpmclasses@yahoo.com

1. राजनीतिक सिद्धान्त की प्रकृति

'राजनीतिक सिद्धान्त' का इतिहास बहुत पुराना है। प्राचीन यूनान को इसके जनक होने का श्रेय दिया जाता है।

'सिद्धान्त' शब्द की उत्पत्ति यूनानी शब्द **'थ्योरिया'** से हुई है जिसका मतलब है 'समझाने की दृष्टि'। 'सिद्धान्त' वे तर्कसंगत अनुमान हैं जो किसी भी घटना क्रम के मूल कारणों की विवेचना करते हैं। 'सिद्धान्त' वे प्रस्थापनाएं हैं जिनसे किसी वस्तु की व्याख्या करने का प्रयत्न किया जाता है।

राजनीतिक सिद्धान्त से तात्पर्य–

राजनीति सिद्धान्त से अभिप्राय है कि राजनीति और राजनीति समस्याओं के बारे में विविध पक्षों का तथ्यों के आधार पर विवेचन करना और विभिन्न राजनीतिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करना।

राजनीतिक सिद्धान्त के प्रकार–

मोटे रूप से राजनीति सिद्धान्त दो प्रकार का है :

1. परम्परावादी राजनीतिक सिद्धान्त –

परम्परागत राजनीति सिद्धान्त का अर्थ– परम्परागत राजनीतिक सिद्धान्त को 'क्लासिकी राजनीति सिद्धान्त', अथवा 'आदर्शी राजनीतिक सिद्धान्त' भी कहा जाता है। यह कल्पना पर आधारित है और इसकी जड़ें इतिहास तथा दर्शन में है। परम्परागत स्वरूप में सिद्धान्त, विचार, दृष्टिकोण, विचारधारा, परिप्रेक्ष्य, उपागम आदि सभी पर्यायवाची बन जाते हैं। राज्य, राज्य की प्रकृति तथा उसका आधार, सरकार, कानून, नैतिकता, प्राकृतिक विधि, राजनैतिक संस्थाएं आदि परम्परागत राजशास्त्र के प्रिय विषय रहे हैं।

परम्परागत राजनीतिक सिद्धान्त की विशेषताएं–

(1) परम्परागत राजनीतिक सिद्धान्त मूल्य सापेक्ष या मूल्यों पर आधारित है।

(2) अधिकांश पुरातन राजनीतिक सिद्धान्त प्रायः बौद्धिक हैं। वे तर्क एवं निगमनात्मक निष्कर्षों पर आधारित हैं।

(3) परम्परागत राजनीतिक सिद्धान्त की चरम सीमा किसी परिपूर्ण राजनीतिक व्यवस्था की खोज में लगी हुई है।

(4) परम्परावादियों के अनुसन्धान तथा विश्लेषण की प्रमुख विधियां ऐतिहासिक एवं विवरणात्मक रही हैं।

(5) परम्परावादियों के अध्ययन और जांच के मुख्य विषय राज्य, सरकार, राजनीतिक संस्थाएँ, राज्य के लक्ष्य (न्याय, सुरक्षा, स्वतंत्रता, लोक, कल्याण, समानता, नैतिकता आदि) रहे हैं।

(6) परम्परागत राजनीतिक सिद्धान्त की यह विशेषता है कि उसके राजनीतिक सिद्धान्त अपने प्रतिपादकों के व्यक्तित्व एवं दृष्टिकोणों से प्रभावित रहे हैं।

परम्परावादी राजनीतिक सिद्धान्त के निर्माता– परम्परागत राजनीति सिद्धान्त का विशेष रूप हमें प्लेटों की रचनाओं में देखने को मिलता है। आधुनिक युग में परम्परावादी राज सिद्धान्त के प्रबल समर्थकों की काफी संख्या है। यहां हम रूसो, काण्ट, हीगल, ग्रीन, बोसांके, लास्की ओकशॉट, लियो स्ट्रास इत्यादि की रचनाओं में प्लेटो और अरस्तू के विचारों के प्रतिबिम्ब देख सकते हैं।

परम्परावादी राजनीतिक सिद्धान्त का मूल्यांकन– अमूर्त्त, निगमनात्मक, काल्पनिक और इस नाते 'अवैज्ञानिक' होने के कारण परम्परावादी राजनीतिक सिद्धान्त की आलोचना की जाती है। आलोचकों का मुख्य तर्क यह है कि यह बहुत मूल्य भारित या लक्ष्य अभिमुख है और इसलिए इसके सिद्धान्तों की व्यावहारिक जांच नहीं की जा सकती।

परम्परावादी विचारक पारम्परिक राजनीतिक सिद्धान्त के ह्रास (पतन) से दुःखी हैं और उसका पुनरोदय चाहते हैं। उनकी दृष्टि में परम्परागत सिद्धान्त के मार्ग में बाधक तत्व रहे हैं– व्यवहारवाद, इतिहासवाद, नैतिक सापेक्षता तथा तकनीकी क्रान्ति।

2. **आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त**

आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त की विशेषताएं–

(1) **अध्ययन मुक्तता–** आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त अध्ययन मुक्त है।

(2) **अनुभवात्मकता–**

(3) **शोध एवं सिद्धान्त में घनिष्ठ सम्बंध–**

(4) **अन्तः अनुशासनात्मक–**

(5) **मूल्य सापेक्षवाद–** आधुनिक राज सिद्धान्त वैज्ञानिक पद्धति को प्रमुखता देता है। उसी के साथ वैज्ञानिक मूल्य सापेक्षवाद जुडा हुआ है। जिसका मूल अर्थ यह है कि शोधकर्ता अपने अनुसंधान से

स्वयं के मूल्यों एवं धारणाओं को अलग रखता हैं तथा इनका अपने अध्ययन पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ने देता।

आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त के बारे में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि इसमें व्यवहारवाद और उत्तर–व्यवहारवाद दोनों के चरण आते हैं।

आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त के निर्माता–

आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त का जनक और निर्माता किसे माना जाए ? राजनीतिकशास्त्र में प्लेटों से लेकर मार्क्स तक महान् 'सिद्धान्त–निर्माता' हुए हैं। राजशास्त्र में हॉब्स और मेकियावेली से आधुनिकता का प्रारंभ माना जाता है।

हींज यूलाउ ने व्यवहारवादी दर्शन एवं सिद्धान्त पर प्रकाश डाला। आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त के निर्माताओं में डेविड ईस्टन, हेरल्ड लासवेल, लार्ड डायश, हरबर्ट साइमन, रिग्स आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। मोरिस डुवर्जर, मिचैल्स तथा मर्टन आदि ने आंशिक सिद्धान्त निर्माण की दिशा में योगदान किया है।

राजनीति विज्ञान में सिद्धान्त निर्माण की समस्याएं–

आधुनिक राज विज्ञान में सिद्धान्त निर्माण से सम्बंधित अनेक कठिनाइयां और समस्याएं हैं, जैसे– (1) राज विज्ञान के सभी सिद्धान्त अधूरे हैं, उनमें से कोई भी समस्त व्यवस्था से सम्बंध नहीं रखता। (2) ऐसा कोई वैज्ञानिक सिद्धान्त विकसित नहीं हो पाया है जो व्यष्टि एवं समष्टि स्तर पर उच्चतर व्याख्या शक्ति रखता हो। (3) राजनीतिशास्त्र में अध्ययन के बहुत सारे विविध उपागम हैं किन्तु उनमें से सर्वसम्मत सामन्जस्यपूर्ण राज सिद्धान्त का विकास नहीं हो पाया है। (4) राजनीतिशास्त्रियों का एक बहुत बड़ा वर्ग सिद्धान्त निर्माण का विरोधी है। उनके अनुसार सिद्धान्त यथार्थ का विरोध व्यवहार में अनुपयोगी तथा गुमराह करने वाला है। (5) कुछ आलोचक इस बात को लेकर आक्षेप करते हैं कि व्यवहारवाद आधुनिक राजनीतिशास्त्रियों पर इतना अधिक छा गया है कि इससे लाभ की अपेक्षा हानि हो रही है। (6) सिद्धान्त निर्माण की प्रक्रिया में पुरानी अवधारणाओं के स्थान पर जिन नई अवधारणाओं को अपनाया गया है उन पर सहमति नहीं है।

2. राजनीतिक सिद्धान्त का ह्रास और पुनरोत्थान

राजनीतिक सिद्धान्त का ह्रास अथवा पतन–

राजनीतिक सिद्धान्त मोटे रूप से दो प्रकार का है– (i) परम्परावादी राजनीतिक सिद्धान्त, और (ii) आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त। '**परम्परावादी राजनीतिक सिद्धान्त**' को शास्त्रीय राजनीतिक सिद्धान्त भी कहा जाता है। परम्परावादी राजनीतिक सिद्धान्त की कतिपय विशेषताएं हैं, जैसे – (1) इसके अध्ययन का आधार 'दर्शन' है, (2) इसकी जड़ें '**इतिहास**' में हैं (3) यह राजनीति में मूल्यों के अध्ययन पर बल देता है (4) यह राजनीति के **आदर्शात्मक** पक्ष पर अधिक बल देता है, इसमें इस बात पर अधिक बल दिया गया है 'क्या होना चाहिए' और यह राजनीतिक अध्ययन को नीतिशास्त्र के अधिक समीप ला देता है। (5) टी.एच. ग्रीन, हाबहाउस, जी.डी.एच.कोल, आर.एच.टानी, हेराल्ड लास्की के विचारों में राजनीति की शास्त्रीय–परम्परावादी सिद्धान्त धारा का दिग्दर्शन होता है क्योंकि उनके विचारों का ध्येय नैतिक उपदेश देना है। इसके विपरीत, '**आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त**' राजनीति को 'विज्ञान' बनाना चाहता है। यह आनुभविक पद्धतियों का प्रयोग करता है तथा तथ्यों के संकलन पर बल देता है। इसके निष्कर्ष पर्यवेक्षण, अनुभव और तथ्यों पर आधारित होते हैं।

राजनीतिक सिद्धान्त के ह्रास (पतन) से अभिप्राय–

जब हम राजनीतिक सिद्धान्त के **ह्रास या पतन** की बात करते हैं तो हमारा अभिप्राय परम्परावादी राजनीतिक सिद्धान्त के ह्रास से हैं।

आज राजनीतिक दार्शनिकों की महान परम्परा का अवसान नजर आने लगा है। डेविड ईस्टन और अलफ्रेड कॉबेन जैसे विद्वानों ने तो राजनीतिक सिद्धान्त के ह्रास की बात कही है वहीं पीटर लासलेट तथा रॉबर्ट डहेल ने तो राजनीतिक सिद्धान्त के निधन की घोषणा भी कर दी है।

राजनीतिक सिद्धान्त के पतन के कारण–

डेविड ईस्टन तथा उल्फ्रेड कॉबेन जैसे विद्वानों ने राजनीतिक सिद्धान्त के ह्रास (पतन) के कारणों की विस्तार से विवेचना की है। डेविड ईस्टन के अनुसार राजनीतिक सिद्धान्तों का अभ्युदय और उत्कर्ष सामाजिक अस्त–व्यस्तता और परिवर्तन की दशा में होता है।

राजनीति सिद्धान्त के ह्रास के निम्नलिखित कारण बतलाए जाते हैं:

(1) महान् राजनीतिक दार्शनिकों की परम्परा का अवसान– कार्ल मार्क्स, जे.एस.मिल तथा लास्की के बाद एक भी उल्लेखनीय राजनीतिक दार्शनिक नहीं हुआ है। वस्तुतः राजनीतिक दार्शनिकों की महान् परम्परा का अवसान हो चुका है इसलिए राजनीतिक सिद्धान्त का पतन होना स्वाभाविक है।

(2) **राजनीति शास्त्र को 'विज्ञान' बनाने की चेष्टा–** राजनीतिक सिद्धान्त के ह्रास का दूसरा कारण है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद नव–राजनीतिशास्त्री राजनीति शास्त्र को राजनीति का विज्ञान बनाने की चेष्टा करने लगे।

(3) **व्यवहारवाद का उदय और प्रभाव–** द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद व्यवहारवाद का बोलबाला बढ़ने लगा। व्यवहारवाद का आधार नई अनुभववादी प्रविधियां हैं जिनमें सांख्यिकीय पद्धति, साक्षात्कार पद्धति, सर्वे पद्धति आदि प्रमुख हैं।

(4) **तथ्यों के संकलन पर दिया जाने वाला जोन–** राजनीतिक सिद्धान्त मूल्य परक होता है। परम्परावादी राजनीतिक सिद्धान्त भी मूल्य परक था किन्तु आज तथ्यों के संकलन पर अधिक बल दिया जाता है।

(5) **इतिहासवाद की बढ़ती हुई प्रवृत्ति–** कतिपय विद्वानों का कहना है कि इतिहासवाद की बढ़ती हुई प्रवृत्ति के कारण भी राजनीतिक सिद्धान्त का पतन हुआ है कि नवनिर्माण।

(6) **विचारधाराओं का बढ़ता हुआ प्रभाव–** जरमीनो जैसे विद्वान राजनीतिक सिद्धान्त के पतन का कारण 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में '**विचारधाराओं**' के बढ़ते हुए प्रभाव को मानते हैं।

(7) **निराशावाद–** अल्फ्रेड कॉबेन के अनुसार राजनीतिक सिद्धान्त के ह्रास का एक और कारण सनकी निराशावाद की पुष्टि में देखा जा सकता है जो राजनीति के किसी भी विचारयुक्त विवेचन में नैतिकता के स्थान की उपेक्षा करता है।

फिर भी यह कहना समीचीन प्रतीत होता है कि परम्परावादी राजदर्शन की परम्परा एकदम समाप्त नहीं हुई है। अन्तर केवल इतना ही है कि जहां पश्चिमी देशों में इसका प्रभाव सीमित और मन्द हुआ है वहां पूर्व में परम्परावादी दर्शन अति उग्र और आक्रामक हो गया है।

पिछले कुछ दशकों से यह माना जा रहा है कि पश्चिम में राजनीतिक सिद्धान्त का पुनरोत्थान हो रहा है।

राजनीतिक सिद्धान्त का पुनरोत्थान–

राजनीतिक सिद्धान्त के उत्कर्ष की दिशा में सबसे महत्वपूर्ण योगदान शिकागो विश्वविद्यालय के प्रो. लियो स्ट्रास का है जिसका कहना है कि यद्यपि राजनीतिक सिद्धान्त (दर्शन) पतन और शायद निधन की स्थिति में हो सकता है, किन्तु यह पूर्णतया अदृश्य नहीं हो गया है। वह महान् क्लासिकी विचारकों

की तरह सिद्धान्त का दर्शन से तादात्म्य करता है और उससे बढ़कर वह निश्चयवाद, इतिहासवाद तथा भौंडे व्यवहारवाद के आधारों को प्रबल रूप में हटाकर अपने को स्वप्नलोकीय राजनीतिक दार्शनिकों की भांति पेश करता है। **ई.पी. मिलर** ने लिखा है: ''शायद ही पहले कभी किसी व्यक्ति को महान् राजनीतिक दार्शनिकों की ऐसी देदीप्यमान एवं सारगर्भित व्याख्याओं को प्रस्तुत करने पर इतना सम्मान मिला होगा।''

संक्षेप में, दर्शन के क्षेत्र में हुई क्रान्ति से राजनीतिक सिद्धान्त कहा जाने वाला एक व्यापक दार्शनिक विषय उभर कर सामने आया है जो शैली में विश्लेषणात्मक है तथा रीतिविधान, संकल्पनाओं के स्पष्टीकरण और तार्किक निश्चयवादियों के विपरीत राजनीतिक मूल्यांकन से इसका सम्बंध है।

3. उदारवाद

उदारवाद से तात्पर्य : अर्थ

उदारवाद के अंग्रेजी पर्याय 'लिब्रलिज्म' की व्युत्पत्ति लैटिन शब्द 'लिबरलिस' से हुई है जिसका अर्थ है 'स्वतंत्रता' या 'स्वतंत्र' से सम्बंधित है। मूलतः 'लिबरल' विशेषण ऐसे व्यक्ति या ऐसे सिद्धान्त के साथ लगाया जाता था जो व्यक्ति की स्वतंत्रता का समर्थन करे।

प्रो. हेरल्ड लास्की ने ठीक ही लिखा है कि ''उदारवाद की व्याख्या करना, उसकी परिभाषा देना सरल नहीं है क्योकि यह सिद्धान्तों का समूह न होकर मस्तिष्क में स्थिर विचार मात्र हैं।''

उदारवाद के अर्थ को समझने के लिए निम्नांकित वक्तव्यों को समझना आवश्यक हैं:

1. यह अनुदारवाद का विलोम नहीं है।
2. उदारवाद व्यक्तिवाद का पर्यायवाची नहीं है।
3. उदारवाद तथा लोकतंत्र पर्यायवाची नहीं है।
4. उदारवाद, लोकतंत्र तथा व्यक्तिवाद का सम्मिश्रण है।
5. उदारवाद सामाजिक कल्याण की उपेक्षा नहीं करता।

संक्षेप में, उदारवाद राजनीति का वह सिद्धान्त है जो सामन्तवाद के पतन के बाद राजनीति को बाजार अर्थव्यवस्था के अनुरूप मोड़ देने के लिए अस्तित्व में आया।

उदारवाद के मूल सिद्धान्त या लक्षण– उदारवाद एक क्रमबद्ध और निश्चित विचारधारा नहीं है, इसका सम्बंध न किसी युग से हैं और न किसी सर्वमान्य व्यक्ति विशेष से।

1. सार्वजनिक कल्याण।
2. नागरिक स्वतंत्रता।
3. मानवीय विवेक में विश्वास।
4. व्यक्ति साध्य और राज्य साधन है।
5. सीमित तथा सांविधानिक शासन की स्थापना।
6. समाज में क्रमिक परिवर्तन की अवधारणा।
7. आर्थिक स्वतंत्रता।
8. रूढ़ियों तथा परम्पराओं का विरोध।
9. प्राकृतिक अधिकारों की धारणा में विश्वास।
10. राजनीतिक स्वतंत्रता।
11. लोकतंत्र में विश्वास।
12. राज्य का उचित हस्तक्षेप।
13. कल्याणकारी राज्य की व्यवस्था।
14. धर्मनिरपेक्ष राज्य का आदर्श।
15. नैतिक और भौतिक आवश्यकताओं में मिश्रण।
16. अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना।

उदारवाद के प्रकार

1. **नकारात्मक या परम्परागत उदारवाद** –

नकारात्मक उदारवाद परम्परागत उदारवाद के नाम से भी जाना जाता है। यह सामन्तशाही के खिलाफ राजनीतिक स्वतंत्रता, पोपशाही के खिलाफ धार्मिक स्वतंत्रता की मांग करता है। इसके अनुसार स्वतंत्रता का अर्थ बन्धनों का अभाव माना गया जिसे नकारात्मक स्वतंत्रता भी कहते हैं। दूसरे शब्दों में, नकारात्मक उदारवाद आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिवाद को महत्व देता है। यह पूंजीवादी वर्ग का आर्थिक दर्शन है। यह राज्य तथा सरकार को आवश्यक बुराई मानता है तथा जो सरकार कम–से–कम शासन करे उसे सर्वोत्तम मानता है।

इंग्लैण्ड की 1688 की गौरवपूर्ण क्रान्ति को इतिहास की पहली उदारवादी क्रान्ति माना जाता है। 1689 में जिस उदारवाद को मान्यता दी गई उसका स्वरूप मूलतः नकारात्मक था, जिसका ध्येय व्यक्तियों और समूहों को शासन की सत्ता से– विशेषतः राजमुकुट के परमाधिकारों से मुक्ति दिलाना था।

नकारात्मक उदारवाद की प्रमुख मान्यताएं निम्नांकित हैं:

1. व्यक्ति को सभी क्षेत्रों में– राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक बौद्धिक–आदि में स्वतंत्रता दी जानी चाहिए।

2. स्वतंत्रता का अर्थ– तमाम प्रकार की सत्ताओ से मुक्ति है।

3. आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिवाद या लैसे फेयर सिद्धान्त को मान्यता।

2. सकारात्मक उदारवाद या कल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त–

19वीं शताब्दी में नकारात्मक उदारवाद पर आधारित स्वतंत्र पूंजीवादी आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्था के गंभीर परिणाम दिखायी दिये।

आज उदारवाद समाजवाद के नाम से जाना जाता है। सकारात्मक उदारवाद का दर्शन जे.एस.मिल, टी. एच.ग्रीन, आर्नोल्ड, हाबहाउस, रिचे, हाब्सन, लास्की, कीन्स आदि के विचारों मे मिलता है।

सकारात्मक उदारवाद की प्रमुख विशेषताएं निम्नांकित हैं–

1. सकारात्मक उदारवाद ने राज्य को एक आवश्यक बुराई न मानते हुए एक नैतिक तथा कल्याणकारी संस्था के रूप में प्रतिष्ठित किया।

2. स्वतंत्रता सकारात्मक है तथा इसे राज्य के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है।

3. राज्य द्वारा अर्थव्यवस्था का नियंत्रण तथा नियोजन किया जाना चाहिए।

4. समाज में परिवर्तन क्रान्ति द्वारा नहीं बल्कि क्रमिक विकास के द्वारा ही आ सकता है।

5. राज्य की शक्ति पर अंकुश रहना चाहिए तथा यह असीमित नहीं होनी चाहिए।

प्रमुख उदारवादी विचारक–

उदारवादी चिन्तन की एक लम्बी परम्परा रही है। उदारवादी चिन्तन हमें विभिन्न काल खण्डों में जॉन लाक, जे.एस. मिल, हर्बर्ट स्पेन्सर तथा टी.एच. ग्रीन के दर्शन में बिखरा दिखलायी पड़ता है। आधुनिक युग में हाबहाउस, लास्की, आइजिया बर्लिन, फ्रीडमैन तथा सी.बी. मैकफर्सन के विचारों में उदारवाद के तत्वों की झलक मिलती है।

नव–उदारवाद

• नव–उदारवाद सामान्यतया राज्य और विशेषकर उसकी हीगलीय संकल्पना व समष्टिवाद से संबंधित सिद्धान्तों में बौद्धिकवाद विरोधी प्रवृति का द्योतक हैं।

• नव–उदारवाद का सर्वाधिक जोर इस बात पर है कि मानव को हर प्रकार के अत्याचार से मुक्त किया जाये चो वह वर्ग हो (जैसा साम्यवादी समाज में होता है) या भीड़ हो (जैसा लोकतंत्र में होता है) या पार्टी हो (जैसा फासिस्ट शासन में होता है)।

• नव–उदारवाद मानव अभिव्यक्ति को अपने एवं समाज के लिए मूल्यवान बनाने में मनुष्यों की क्षमता में तथा उन संस्थाओं व नीतियें का समर्थन करने में आस्था रखता है जो मुक्त अभिव्यक्ति व उस स्वतंत्रता में विश्वास की रक्षा करता एवं उसे प्रोत्साहित करता है।

• नव–उदारवाद के समर्थकों में शुम्पीटर, राबर्ट डाहल, चैपमेन और जॉन राल्स के नाम उल्लेखनीय हैं।

• नव–उदारवाद का एक प्रमुख लक्षण मुक्त या खुले समाज की आवश्यकता पर बल देना है।

कार्ल मार्क्स : मार्क्स वाद

राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में कार्ल मार्क्स को ''वैज्ञानिक समाजवाद'' के जनक के रूप में स्मरण किया जाता है।

कार्ल मार्क्स : वैज्ञानिक समाजवाद के जनक – कार्ल मार्क्स आधुनिक युग का ऐसा दार्शनिक है जिसने न केवल समाजवादी विचारधारा का प्रतिपादन किया अपितु सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने के वैज्ञानिक नियमों की खोज भी की। मार्क्स का अमर ग्रन्थ ''कैपीटल'' तथा ''कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो'' समस्त समाजवादी विचारों की खान माने जाते है। मार्क्सवादी समाजवाद को प्रायः ''सर्वहारा समाजवाद'' अथवा ''वैज्ञानिक समाजवाद'' के नाम से पुकारा जाता है।

वेपर ने इस सम्बन्ध में ठीक लिखा है कि ''उन्होंने सुन्दर गुलाबों के सपने तो अवश्य देखे किन्तु गुलाब के पैधे उगाने के लिए जमीन तैयार नही की।'' मार्क्स ने एक वैज्ञाानिक की तरह ऐतिहासिक तथ्यों का विश्लेषण किया और सामाजिक प्रगति के लिए उत्तरदायी तत्वों को खोज निकाला। उसने पूंजीवाद के दोषों का वर्णन करने के साथ–साथ पूंजीवाद का अन्त कर वर्ग विहीन समाज की स्थापना करने के लिए एक विधिवत् प्रक्रिया का निरूपण भी किया।

समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के उद्देश्य से उसके द्वारा 'विश्व के मजदूरो एक हो जाओ'' इन शब्दों में श्रमिक वर्ग का क्रान्ति के लिए आव्हान किया और इस दृष्टि से 1864 में ''प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय'' की स्थापना एक महत्वपूर्ण कदम था। उसने सर्वहारा वर्ग को तर्कसंगत सिद्धान्त देकर महान् शक्ति और कार्य गति प्रदान की।

कार्ल मार्क्स के प्रमुख सिद्धान्त : मार्क्सवाद –

(i) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद :

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त मार्क्स के सम्पूर्ण चिन्तन का मूलाधार है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में मार्क्स ने द्वन्द्ववाद का विचार हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति से ग्रहण किया और भौतिकवाद का दृष्टिकोण **फायरबाख** से। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मे दो शब्द है – इनमें प्रथम शब्द ''उस प्रक्रिया को स्पष्ट करता है जिसके अनुसार सृष्टि का विकास हो रहा है और दूसरा शब्द ''भौतिकवाद'' सृष्टि के मूल तत्व को सूचित करता है। हीगल यह मानकर चलता है कि समाज की प्रगति प्रत्यक्ष न होकर एक टेढ़े–मेढ़े तरीके से हुई जिसके तीन अंग है – वाद, प्रतिवाद और सम्वाद, मार्क्स की द्वन्द्वात्मक पद्धति का आधार हीगल का यही द्वन्द्वात्मक दर्शन है।

भौतिकवाद – मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक पद्धति हीगल से ग्रहण की है, परन्तु मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद हीगल से बहुत अधिक भिन्न है। उसके द्वन्द्ववाद का आधार ''विचार'' या ''आध्यात्मिकता'' था परन्तु मार्क्स के अनुसार ''विचार'' नही ''भौतिक पदार्थ'' ही इस जगत् का आधार है। मार्क्स ने कहा – नहीं, मुख्य वस्तु पदार्थ है और पदार्थ में परिवर्तन द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया द्वारा होते है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद – द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद प्रगतिवादी है तथा उसकी प्रकृति भौतिक है, आत्मिक नही। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की मूल धारणा है कि विश्व का आधार भौतिक तत्व या पदार्थ है। मार्क्स ने इसे मानव इतिहास का अटल तथा अपरिवर्तनीय नियम कहा है।

मार्क्स के अनुसार विश्व एक भौतिक जगत् है। इसमें घटनाएं तथा वस्तुएं एक–दूसरे से सम्बद्ध है। चूंकि भौतिक जगत् में परिवर्तन निरन्तर होते रहते है, अतः सामाजिक जीवन में भी परिवर्तन होते रहते है। इन परिवर्तनों का कारण कोई दैवी सत्ता या ईश्वरीय नियम नहीं है प्रत्युत भौतिक परिस्थितियों का होना है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की विशेषताएँ –

1. आंगिक एकता
2. गतिशीलता
3. परिवर्तनशीलता
4. परिमाणात्मक, गुणात्मक परिवर्तन
5. क्रान्तिकारी प्रक्रिया
6. नकारात्मक, सकारात्मक संघर्ष

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का महत्व – द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर मार्क्स उस नए समाज की स्थापना का तर्कपूर्ण औचित्य सिद्ध करना चाहता था जिसके भविष्य मे निर्माण की वह कल्पना करता था। उसका इस सिद्धान्त के आधार पर यह भी कहना है कि प्रत्येक पदार्थ में जिस तरह का अन्तर्निहित विरोध होते है, इन विरोधी शक्तियों के मध्य वर्ग–संघर्ष चलता रहता है। इस प्रकार पूंजीवाद में ही विनाश के बीज विद्यमान रहते है।

(ii) इतिहास की आर्थिक या भौतिकवादी व्याख्या :

इस सिद्धान्त को ''आर्थिक नियतिवाद'', 'ऐतिहासिक भौतिकवाद'', अथवा ''इतिहास की आर्थिक व्याख्या'' जैसे अनेक नामों से पुकारा गया है। मार्क्स के शब्दों में, "इतिहास का निर्धारण अपने अन्तिम रूप में आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार होता है।''

इस प्रकार मार्क्स उत्पादन पद्धति को सामाजिक व्यवस्था का आधार सिद्ध करते हुए उस परिवर्तन प्रक्रिया का वर्णन करता है जो उत्पादन के साधनों में परिवर्तन के साथ सामाजिक विकास के नए चरणों को जन्म देता है।

उत्पादन के साधनों के आधार पर बदलने वाले समाज के इतिहास को मार्क्स ने निम्नलिखित पांच युगों में बांटा है :

1. **आदित साम्यवादी युग –** मार्क्स के अनुसार प्रारम्भिक आर्थिक व्यवस्था एक साम्यवादी व्यवस्था थी। मनुष्य कन्दमूल, फल व शिकार से अपना पेट भरता था।
2. **दास युग –** दास युग में आदमी पशुओं की तरह बिका करते थे। दास की पत्नी व बच्चे भी मालिक की तरह बिका करते थे। दास की पत्नी व बच्चे भी मालिक की वस्तु कहलाते थे। दास युग में मालिकों की संख्या कम थी और दासों की ज्यादा। यूरोपीय इतिहास का अध्ययन करने पर इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था हमें प्राचीन यूनान के नगर राज्यों में देखने को मिलती है।

3. **सामन्ती युग** – इस युग में दास मालिकों की गुलामी से तो आजाद हो गए, लेकिन वे जमीन के गुलाम बन गए। सामन्तवाद में समाज सामन्त और किसान दो विरोधी वर्गो में बंट गया। इस प्रक्रिया ने एक ऐसे वर्ग को जन्म दिया जो एक व्यक्ति से चीजे खरीदकर दूसरे व्यक्ति को दे देता था। यह वर्ग व्यापारी वर्ग कहलाया।

4. **पूंजीवादी युग** – उत्पादन के नये साधन (मशीन) ने उत्पादन के नये रिश्तों को जन्म दिया और सामन्तवाद के स्थान पर पूंजीवादी युग का प्रारम्भ हुआ। पूंजीवाद को अपना वास्तविक स्वरूप औद्योगिक क्रान्ति के होने पर प्राप्त हुआ। पूंजीवाद ने दासता को मिटाने के बजाय इसे दूसरे रूप में स्थायी बनाया और वेतनभोगी ''वेतन पाने वाला दास'' बन जाता है। मार्क्स के अनुसार पूंजीवाद अपने अन्दर ही अपने पतन के बीज छिपाये है।

5. **साम्यवादी युग** – मार्क्स ने साम्यवादी युग के दो लक्षण बतलाये है : 1. यह समाज अन्ततोगत्वा राज्य–विहीन एवं वर्ग–विहीन होगा। 2. इस समाज के अन्दर वितरण का सिद्धान्त होगा – ''प्रत्येक अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करे और उसे अपनी आवश्यकता के अनुसार प्राप्त हो।''

मार्क्स द्वारा दी गई इतिहास की आर्थिक या भौतिकवादी व्याख्या से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते है –

1. इतिहास का अध्ययन मानव समाज के विकास के नियम जानने के लिए किया जाता है।
2. प्रकृति के विकासो के नियमों की तरह ही समाज के विकास के भी कुछ नियम है।
3. किसी राष्ट्र या समाज के विकास की प्रक्रिया में आर्थिक तत्व अर्थात् वस्तुओं के उत्पादन विनिमय और वितरण प्रणाली की भूमिका सबसे प्रधान होती है।
4. उत्पादन सम्बन्धों में आर्थिक अव्यवस्थाओं के आधार पर समाज के इतिहास को पांच मुख्य युगों में बाँटा गया है।
5. इतिहास की आर्थिक व्याख्या के माध्यम से मार्क्स पूंजीवाद के अन्त और साम्यवाद के आगमन की अनिवार्यता व्यक्त करता है।

(iii) वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त :

वेपर के अनुसार मार्क्स के चिन्तन में वर्ग संघर्ष की धारणा का विशिष्ट महत्व है। उसका वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त उसकी इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या और अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त पर आधारित है।

वास्तव में वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त ऐतिहासिक भौतिकवाद की ही उपज है। मार्क्स ने आर्थिक नियतिवाद की सबसे महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति इस बात मे देखी कि समाज में सदैव ही विरोधी आर्थिक वर्गो का अस्तित्व रहा है। यह वर्ग संघर्ष हमेशा समाज में विद्यमान दो परस्पर विरोधी हितों वाले वर्गो में चलता है।

वर्ग से तात्पर्य – वर्ग व्यक्तियों के उस समूह को कहते है जो उत्पादन की किसी विशेष प्रक्रिया से सम्बन्धित हो और जिनके कारण हित एक हो। इतिहास की आर्थिक व्याख्या पर बल देने के कारण मार्क्स इसका लक्षण आर्थिक तत्वों पर बल देते हुए करता है और कहता है कि जिस समूह के आर्थिक हित एक समान होते है, उसको वर्ग कहते है, जैसे मिल मालिक, जमींदार, व्यापारी, किसान, मजदूर आदि।

संघर्ष से तात्पर्य –संघर्ष का अर्थ केवल लड़ाई नहीं है, किन्तु इसका व्यापक अर्थ असन्तोष, रोष और आंशिक असहयोग है। इस प्रकार मार्क्स के अनुसार संघर्ष का अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि समाज में निरन्तर युद्ध की सी स्थिति बनी रहे अपितु इसका केवल इतना अर्थ है कि समाज में एक वर्ग ऐसा अवश्य होता है जिसकी आवश्यकताएं पूरी न होने से वह सर्वदा असन्तुष्ट रहता है। इस असन्तोष को वह वर्ग समय–समय पर कई रूपों में – असहयोग, हड़ताल आदि द्वारा व्यक्त करता है।

वर्ग संघर्ष और पूंजीवाद –मार्क्स के अनुसार समाज का विकास वर्गो के आपसी तालमेल, सहयोग और शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के आधार पर नहीं होता है बल्कि वर्गो के आपसी संघर्ष के परिणामस्वरूप होता है। समाज में तमाम अपरिवर्तन वर्ग संघर्ष के आधार पर ही होते है तथा इससे समाज का विकास होता है।

आज के पूंजीवादी युग में आजीविका कमाने के साधनों के आधार पर समाज को दो वर्गो में विभाजित किया जा सकता है – (1) पूंजीपति या बुर्जुआ तथा (2) श्रमजीवी या सर्वहारा।

मार्क्स के अनुसार पूंजीपति और श्रमिक, दोनों को एक–दूसरे की जरूरत होते हुए भी इनके हितों में परस्पर विरोध है। पूंजीपति कम से कम मजदूरी देना चाहता है जिससे उसे अधिकाधिक लाभ हो और मजदूर अधिक से अधिक मजदूरी लेना चाहता है, अतः हितों के विरोध के कारण इन दोनों में संघर्ष आरम्भ हो जाता है। यही वर्ग संघर्ष की बुनियाद है और इसी कारण वर्ग संघर्ष हमेशा से चला आ रहा है।

मार्क्स कहता है कि अब तक के इतिहास में जिस वर्ग ने शोषणकर्ताओं से सत्ता छीनी, कालान्तर में वह स्वयं शोषणकर्ता सिद्ध हुआ। इसलिए अब तक जितनी क्रान्तियां हुई, उनसे इतिहास अपने चरम लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाया। **वर्ग संघर्ष सिद्धान्त के निष्कर्ष –** पूंजीवाद के विनाश के कारणों पर प्रकाश डालते हुए मार्क्स ने कहा है ''इस संघर्ष में उसका विनाश और सर्वहारा वर्ग की विजय दोनों ही अवश्यम्भावी है।'' उसके वर्ग संघर्ष सिद्धान्त से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते है –

1. उत्पादन सम्बन्धों के आधार पर समाज में वर्ग विभाजन स्पष्ट होता है।
2. समाज का विकास वर्गो के आपसी संघर्ष के फलस्वरूप होता है, आपसी सहयोग के द्वारा नहीं।
3. समाज में मुख्यतः दो वर्ग होते है जिनके हित परस्पर विरोधी होते है।
4. जब तक वर्ग में चेतना तथा वर्ग संगठन न हो तब तक वर्ग संघर्ष तेज होकर क्रान्ति की दिशा में नहीं बढ़ता।
5. वर्ग संघर्ष क्रान्ति को जन्म देता है जिसके फलस्वरूप एक वर्ग की सत्ता दूसरे वर्ग के हाथों में आ जाती है।

वर्ग संघर्ष सिद्धान्त का महत्व – मार्क्स पहला व्यक्ति था जिसने इतिहास की वर्ग हितों के आधार पर व्याख्या की है। पूंजीवाद के सम्बन्ध में मार्क्स की कई भविष्यवाणियाँ गलत सिद्ध हुई, परन्तु पूंजीवाद के विकास की धारा लगभग वही है जैसी कि मार्क्स व एंगेल्स ने बताई थी। मार्क्स का वर्ग संघर्ष सिद्धान्त श्रमजीवी वर्ग के लिए महान् प्रेरणा का स्त्रोत है क्योंकि उसके द्वारा श्रमजीवी वर्ग की विजय अवश्यम्भावी बताई गई। प्रभाव की दृष्टि से यदि इस सिद्धान्त का हम मूल्यांकन करे तो हमें यह ज्ञात होगा कि वर्ग संघर्ष के शस्त्र को अपनाकर विश्व मानवता के बहुत बड़े भाग ने प्रत्यक्ष रूप से पूंजीवादी बुराइयों से मुक्ति प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की है।

(iv) अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त :

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन मार्क्स ने अपनी पुस्तक ''दास कैपीटल'' में किया है। ''अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त'' ''मूल्य के श्रम सिद्धान्त'' पर आधारित है। इस सिद्धान्त के अनुसार ''अन्त में किसी वस्तु का विनिमय मूल्य उसके उत्पादन में लगाए गए सामाजिक दृष्टि से लाभदायक श्रम की मात्रा पर निर्भर करता है।''

मार्क्स अपने अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए प्रत्येक वस्तु के दो तरह के मूल्य बतालाता है :

1. **उपयोगिता मूल्य** – मार्क्स ने उपयोगिता मूल्य और विनिमय मूल्य के मध्य अन्तर किया है। उपयोगिता का अर्थ है कि मनुष्य की इच्छा पूरी करना। जो वस्तुएं मनुष्य की इच्छा पूरी करती है, वे उसके लिए उपयोगी है, अतः वे मनुष्य के लिए महत्वपूर्ण है और मूल्यवान है। जो वस्तुएं उसकी इच्छा को पूरी नहीं करती, वे उसके लिए उपयोगी न होने से कोई मूल्य नही रखती। उदाहणार्थ, रेगिस्तान में बालू बहुत अधिक होती है और पानी की कमी पाई जाती है, अतः पानी अधिक उपयोगी है और बालू की कोई उपयोगिता नहीं।

2. **विनिमय मूल्य** – मूल्य का दूसरा आधार विनिमय है, इसे विनिमय मूल्य कहते है। विनिमय मूल्य इस बात में है कि उस वस्तु के बदले में क्या प्राप्त होता है। विनिमय मूल्य वह अनुपात है जिसके द्वारा वस्तुओं के बदले में विनिमय हो सके। उपयोगिता की वस्तु हुए बिना किसी वस्तु का मूल्य नही हो सकता लेकिन हर उपयोगी वस्तु का विनिमय मूल्य होना आवश्यक नही है। खाने की वस्तु होने के कारण रोटी का उपयोग मूल्य है, लेकिन जब रोटी को बेचा जाता है उस समय उसका दूसरा मूल्य है जिसे हम विनिमय मूल्य के नाम से पुकारते है।

अतिरिक्त मूल्य – मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था में मजदूर अपनी श्रमशक्ति बेचता है तथा ''मजदूरी'' प्राप्त करता है। हर मजूदर अपनी मजदूरी से ज्यादा काम करता है तथा अधिक मूल्य पैदा करता है। मार्क्स के अनुसार ''अतिरिक्त मूल्य'' उन दो मूल्यों का अन्तर है जिसे एक श्रमिक पैदा करता है और जिसे वह वास्तव में पाता है। उदाहणार्थ, मजदूरी के लौह नियम के अनुसार दैनिक मजदूरी की दर पांच रूपया है। कारखाने में काम करने वाले मजदूर उसे मजदूरी के मूल्य की अर्थात् पांच रूपए की वस्तुएं चार घण्टें में ही बना लेता है, किन्तु कारखाने का मालिक उससे आठ घण्टे काम लेता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वह दिन भर में दस रूपए मूल्य की वस्तुएँ उत्पन्न करता है किन्तु कारखाना मालिक पांच रूपए उसे देकर प्रतिदिन पांच रूपए अपनी जेब में डालता है। मार्क्स के अनुसार यह अतिरिक्त मूल्य श्रमिक को मिलना चाहिए, किन्तु कारखाना मालिक उसके श्रम की चोरी करता है। पूंजी के मालिक उस ''अतिरिक्त मूल्य'' को हड़प लेते हैं। मजदूरों के विरूद्ध पूंजीपतियों का

यह शोषण कुचक्र बहुत समय से चल रहा है और इसका अन्त पूंजीवाद के अन्त के साथ ही हो सकेगा।

अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त का महत्व – अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त ने पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली तथा उत्पादन व्यवस्था में छिपे शोषण, जुल्म तथा अत्याचार को वैज्ञानिक आधार पर स्पष्ट किया तथा समाजवादी अर्थव्यवस्था का समर्थन किया। उन्होंने सिद्ध कर दिया कि उसके हर माल का मूल्य इस बात से निर्धारित होता है कि उसके उत्पादन में सामाजिक दृष्टि से कितना आवश्यक श्रम–काल लगाया जाता है।''

मार्क्स का राज्य सिद्धान्त : प्लेटो और अरस्तु की भांति राज्य को एक लोक कल्याणकारी संगठन मानता है। उसकी उत्पत्ति वर्ग संघर्ष से हुई है।

राज्य की उत्पत्ति के कारण वर्ग विभेद – राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मार्क्स की विचारधारा सामान्य मत के सर्वथा विपरीत है। प्लेटो, अरस्तु और अनेक विचारकों का मत है कि राज्य एक स्वाभाविक और नैतिक संस्था है जो मानव जीवन के साथ जुड़ी हुई है। लेकिन मार्क्स राज्य को एक वर्गीय संस्था मानता है। आदिम साम्यवादी व्यवस्था में समाज के सदस्यों के बीच हितों का कोई संघर्ष नही था, इसलिए सम्पूर्ण समाज मिलकर अपने मामलों का प्रबन्ध स्वयं कर लेता था और राज्य का कोई अस्तित्व नही था। मार्क्स लिखते है, "राज्य सम्पत्तिशाली वर्ग का संगठन है जो सम्पत्तिहीन वर्ग से इनकी सुरक्षा करता है।''

राज्य वर्ग शोषण का यन्त्र – राज्य के उद्देश्य एवं स्वरूप के बारे में मार्क्स का विचार अन्य दार्शनिकों से काफी भिन्न है। अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में उन्होंने हीगल के राज्य सम्बन्धी विचारों की कटु आलोचना की।

मार्क्स ने यह भी माना है कि राजनीतिक मुक्ति मानव की मुक्ति नही है, राज्य स्वतन्त्र हो सकता है, बिना मनुष्य के स्वतन्त्र हुए। मार्क्स ने राज्य के बारे में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह कही है कि ''राज्य बिखरे हुए नागरिक समाज को संगठित नहीं करता, यह एक राजनीतिक अन्धविश्वास है कि राज्य सामाजिक जीवन को व्यवस्थित करता है। मार्क्स के अनुसार राज्य शासक वर्ग के हितों को सुरक्षित बनाए रखने का तथा अन्य वर्गो के शोषण करने का साधन या उपकरण मात्र है। वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था में राज्य पूंजीपतियों का संगठन है, इसका उद्देश्य मजदूर वर्ग का शोषण करना है, इस उद्देश्य

की पूर्ति के लिए यह अपनी सारी सम्पत्ति एवं हितों की रक्षा की दृष्टि से कानूनों का निर्माण करता है। कानून भंग करने वालों को पकड़ने तथा दण्ड देने के लिए पुलिस तथा न्यायालयों की व्यवस्था करता है।

अन्तरिम काल में सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद – मार्क्स के अनुसार पूंजीवाद का अन्त अनिवार्य है। क्रान्ति के द्वारा पूंजीवादी वर्ग को नष्ट कर दिया जाएगा और सर्वहारा (श्रमजीवी) का अधिनायकत्व स्थापित हो जाएगा वर्गहीन समाज की स्थापना में कुछ समय लगेगा और अन्तरिम काल (Transitional Period) में सर्वहारा का शासन होगा। ''पूंजीवाद के अन्त के बाद भी राज्य कुछ समय तक अस्तित्व में रहेगा और इस काल में सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद स्थापित होगा।''

'गोथा कार्यक्रम की आलोचना' में मार्क्स एक अत्यधिक महत्वपूर्ण प्रस्थापना निरूपित करते है – पूंजीवादी और कम्युनिस्ट समाज के बीच एक से दूसरे में क्रान्तिकारी रूपान्तरण का काल होता है। मार्क्स यहां अत्यन्त महत्वपूर्ण निष्कर्ष का ऐतिहासिक सूत्र पेश करते है – एक पूरे संक्रमण काल की ऐतिहासिक आवश्यकता है और इस काल का **राज्य सर्वहारा अधिनायकत्व** ही होना चाहिए।

राज्य संस्था का विलोप : कम्युनिस्ट घोषणा पत्र में स्पष्ट कहा गया है – "विकास क्रम में वर्गो के भेद मिट जायेंगे और सारा उत्पादन पूरे राष्ट्र के एक विशाल संघ के हाथ में संकेन्द्रित हो जायेगा, तब सार्वजनिक सत्ता अपना राजनीतिक स्वरूप खो देगी।'' **एंजिल्स** के शब्दों में, ''राज्य का अन्त नही किया जाता उसका लोप हो जाता है।''

मार्क्स की मान्यता के अनुसार जब तक समाज में वर्ग बने रहेंगे तब तक एक विशेष वर्ग की सत्ता के समर्थक राज्य की भी सत्ता बनी रहेगी। किन्तु सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता के चरण में पूंजीपतियों के वर्ग का उन्मूलन हो जायेगा, इसके बाद समाज में वर्ग भेद की सत्ता स्वतः समाप्त हो जायेगी और तब व्यक्तियों को समानता की स्थिति प्राप्त हो जायेगी। मार्क्स के शब्दों में, ''पुराने बुर्जुआ समाज तथा उसके वर्गो और वर्ग विरोधों के स्थान पर हम एक समाज की स्थापना करेंगे जिसमें प्रत्येक का स्वतन्त्र विकास सभी के स्वतन्त्र विकास की आवश्यक शर्त होगी।''

वैयक्तिक स्वन्तत्रता और सामाजिक न्याय : व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और समाजिक न्याय के बीच आपसी सम्बन्धों को लेकर दो दृष्टिकोण प्रचलित है। एक दृष्टिकोण तो यह है कि दोनों एक–दूसरे के विरोधी है और दूसरा दृष्टिकोण दोनों का पूरक मानता है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से अभिप्राय यह है कि मनुष्य

को अपने व्यक्गित जीवन से सम्बन्धित कार्यो में स्वतन्त्रता होनी चाहिए। व्यक्ति अपना भला स्वयं सोचता है तथा उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए उसे कुछ स्वतन्त्रताएं मिलनी चाहिए। सामाजिक न्याय का अर्थ है – एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था का होना जिसमें बिना किसी भेदभाव के हर व्यक्ति को समान अवसर एवं सुख–सुविधा उपलब्ध हो। न्याय के अर्थ को मुख्यतः दो भागों में बांटा जा सकता है – (1) व्यापक अर्थ और (2) संकीर्ण अर्थ। **व्यापक अर्थ में** न्याय को मानव तथा समाज के समस्त आचरणों के सन्दर्भ में देखा जाता है। इस रूप में यह सदाचार या अच्छाई के रूप में जाना जाता है। **संकीर्ण अर्थ में** न्याय को कानून के साथ जोड़कर देखा जाता है। यहां न्याय एक प्रक्रिया के रूप में दिखाई देता है। न्याय को व्यक्ति के रूप में देखा जाता है। **मेरियम** के अनुसार, ''न्याय उन मान्यताओं और प्रक्रियाओं का योग है जिनके माध्यम से प्रत्येक मनुष्य को वे सभी अधिकार और सुविधाएं जुटाई जाती है जिन्हें समाज उचित मानता है।''